योगि प्रत्यक्ष और ज्योतिर्ज्ञान

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

प्राचार्य, केवलारी, म० प्र०

सामान्य व्यवहार में पाँच इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। भारत में बहुप्रचलित धारणा है कि इन्द्रियों की सहायता के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। इसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष या मुख्य प्रत्यक्ष और इसकी तुलना में इन्द्रियप्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।[1]

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष के चार प्रकार बताये हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। जैन परम्परा में भावसेन के प्रमाप्रमेय में यही वर्गीकरण स्वीकृत है। स्पष्ट है कि पूर्व परम्परा के मुख्य प्रत्यक्ष को यहाँ योगिप्रत्यक्ष कहा है।[2]

मुख्य प्रत्यक्ष के तीन प्रकार बताये हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल। ध्यान देने की बात है कि इनमें मनःपर्यय और केवल तो योगी मुनियों के ही सम्भव माने गये हैं परन्तु अवधिज्ञान योगी मुनियों के अतिरिक्त देव, नारक और विशिष्ट गृहस्थों को भी होना स्वीकार किया गया है।

योगिप्रत्यक्ष कैसे होता है ? पूर्व परम्परा के अनुसार सम्बद्ध ज्ञानावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से यह ज्ञान प्राप्त होता है। धर्मकीर्ति का कथन है कि योगिप्रत्यक्ष भूतार्थ भावना के प्रकर्ष से होता है। इस प्रकार यहाँ योगिप्रत्यक्ष के लिए अध्ययन और चिन्तन की पृष्ठभूमि आवश्यक मानी गई है।

जैन परम्परा में भी केवलज्ञान के लिए साधनभूत शुक्ल ध्यान की पहली दो अवस्थाएँ पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क जिस योगी के सम्भव होती हैं वह पूर्वविद् होता है। पृथक्त्ववितर्क में शब्दों और अर्थों की विभिन्नता के माध्यम से वस्तु का चिन्तन होता है और एकत्ववितर्क में विभिन्नता पीछे छूट जाती है।[3]

धर्मकीर्ति के व्याख्याकार प्रज्ञाकर ने अध्ययन और चिन्तन की पृष्ठभूमि के साथ योगिप्रत्यक्ष की प्राप्ति का वर्णन किया है।[4] विद्यानन्द की अष्टसहस्री में भी लगभग इन्हीं शब्दों का प्रयोग है।[5]

ज्ञान प्राप्ति की यह प्रक्रिया वैज्ञानिक शोध की प्रक्रिया से बहुत मिलती जुलती है। वैज्ञानिक को अपने विषय के पूर्ववर्ती अध्ययन से परिचित होना आवश्यक है। उस विषय के पृथक्-पृथक् पक्षों का चिन्तन-परीक्षण और उसके बाद निष्पन्न एक सिद्धान्त का प्रतिपादन ही वैज्ञानिक के कार्य को पूर्णता देता है।

---

१. अकलंक विरचित लघीयस्त्रय, श्लो० ४।

२. भावसेन कृत प्रमाप्रमेय, पृ० ४।

३. अकलंक विरचित तत्वार्थवार्तिक, खण्ड २, पृ० ६३२।

४. प्रमाणवार्तिक भाष्य, पृ० ३२७ : श्रुतमयेन ज्ञानेन अर्थात् गृहीत्वा युक्तिचिन्तामयेन व्यवस्थाप्य भावयतां तन्निष्पत्तौ यदवितथविषयं तदेव प्रमाणं तद्युक्ता योगिनः।

५. अष्टसहस्री पृ० २३५ : ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तः अतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात् कुर्वते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैज्ञानिक के निष्कर्ष कई बार गलत भी होते हैं। क्या योगिप्रत्यक्ष भी भ्रान्त हो सकता है? जैन परम्परा में अवधिज्ञान तो भ्रान्त हो सकता है, मनःपर्यय और केवल नहीं। प्रज्ञाकर इस समस्या से परिचित हैं। वे कहते हैं कि अतीन्द्रिय विषयों का वर्णन तो सभी करते हैं किन्तु वह परस्पर विरोधी भी पाया जाता है। ऐसी स्थिति में जो प्रमाण-संवादी हो उसे हम प्रत्यक्ष कहेंगे और शेष को भ्रम।[1]

विद्यानन्द की अष्टसहस्री का उपर्युक्त प्रसंग इस सन्दर्भ में विशेष उपयोगी है। यहाँ प्रश्न उठाया गया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम की क्या आवश्यकता है। आचार्य कहते हैं कि ज्योतिर्ज्ञान (ग्रह नक्षत्रों की गति आदि का ज्ञान) आगम से ही होता है, केवल प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं। शंका उठाई गई है कि सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान से ही तो ज्योतिर्ज्ञान हो जाता है। उत्तर दिया गया है कि सर्वज्ञ को योगिप्रत्यक्ष की प्राप्ति के पूर्व यदि पूर्ववर्ती उपदेश प्राप्त न हो तो उन्हें योगिप्रत्यक्ष की प्राप्ति नहीं होती।[2] श्रुत और चिन्तन के उत्कर्ष से ही योगिप्रत्यक्ष प्राप्त होता है।

आधुनिक दृष्टि से देखने पर यह स्वाभाविक जान पड़ता है कि ज्योतिर्ज्ञान पूर्व परम्परा से प्राप्त होता है। परन्तु इस परम्परागत उपदेश को प्रत्यक्ष निरीक्षणों के द्वारा निरन्तर जाँचना होता है और उसमें जो अंश प्रमाणसंवादी न हो, उसे भ्रम मानकर छोड़ना भी पड़ता है। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में ज्योतिर्ज्ञान का विवरण एक-सा नहीं है। यह विभिन्नता यही दिखाती है कि इन विवरणों में यथार्थ के साथ भ्रम का कुछ अंश मिला हुआ है। इस अंश की पहचान आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों से काफी हद तक सम्भव हुई है। ऐसी स्थिति में ज्योतिर्ज्ञान के प्राचीन विवरणों पर आँख मूंद कर विश्वास करना सम्भव नहीं है। ज्योतिर्ज्ञान के परम्परागत अनेक रूप हमारे सामने हैं। उनमें कितना अंश सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा परीक्षित है—यह जानने का कोई साधन नहीं है। अतः अमुक एक विवरण सर्वज्ञोपदिष्ट है, इसलिए उस पर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए—यह आग्रह करना उचित नहीं होगा।[3]

●

---

१. प्रमाणवार्तिक भाष्य पृ० ३२८ : अतीन्द्रियार्थं हि वचः सर्वेषामेव विद्यते परस्परविरुद्धं च। तथा पृ० ३२७; तत्र प्रमाण-संवादि यत् प्राग् निर्णीतवस्तुनः तद् भावनाजं प्रत्यक्षमिष्टं शेषा उपप्लवाः।

२. अष्टसहस्री पृ० २३५ : न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः। सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिः अनुमानविदां पुनरनुमानादपीति चेन्न। सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात् पूर्वमुपदेशाभावे तदुत्पत्त्ययोगात्।

३. स्व० पं० सुखलालजी ने तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका में तीसरे-चौथे अध्याय के विषय में लिखा था कि प्राचीन समय में ये धारणाएँ प्रचलित थीं। इस रूप में इनका अध्ययन करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org